सिलिकॉसिस–एक धीमी और निश्चित मौत

● दिगान्तर

आप इतने पढ़े लिखे और सामर्थ्यवान हैं कि यह पत्रिका पढ़ सकें। नहीं तो हमारे ही देश में न जाने ऐसे कितने करोड़ शख़्स हैं जो पढ़-लिख नहीं सकते। आप इतने सामर्थ्यवान और क़ाबिल कैसे बने? शायद आपका जवाब हो–अपने माँ-बाप या परिवार वालों की बदौलत जिन्होंने आपको स्कूल भिजवाया। लेकिन इस लेख का लेखक कहना चाहता है कि आपकी इस काबिलियत के जिम्मेदार केवल आपके परिवार वाले ही नहीं हैं बल्कि वे हज़ारों शख़्स भी हैं जो अब इस दुनिया में नहीं हैं या अगर हैं भी तो उनकी बाकी बची ज़िन्दगी अधिक नहीं है। हो सकता है कि आपको ये बातें पहेली जैसी लगें। तो ठीक है इसी बात को और स्पष्ट शब्दों में कहा जाय। बचपन में आपने जिस स्लेट पर, जिस पेंसिल से लिखना व पढ़ना सीखा, उसे आप तक पहुँचाने में तमाम बाल श्रमिकों ने अपनी ज़िन्दगी के 20 से 25 साल गवाँ दिये। इन्होंने ग्रेनाइट, सिलिका व ग्रेफाइट की खदानों में 12 से 14 घण्टे काम करके स्वयं को टी.बी. व सिलिकोसिस का रोगी बना लिया। उन बाल श्रमिकों ने अपना बचपन गवाँया तक जाकर हम जैसे तमाम लोगों का बचपन सँवरा। आपके स्कूल की इमारत में इस्तेमाल होने वाला सीमेण्ट, खिड़कियों व रोशनदानों पर लगने वाला काँच, प्रयोगशालाओं-दफ़्तरों व आपके चश्मे में इस्तेमाल होने वाला लेंस, रसोई में खाद्य सामग्री रखने के लिए इस्तेमाल होने वाले सिलिका मिट्टी के बर्तन आदि अनेक चीज़ों में सिलिका का प्रयोग होता है, जिसे सिलिका खदान श्रमिक अपनी ज़िन्दगियों को दाँव पर लगाकर पैदा करते हैं।

उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जिले में शंकरगढ़ वह गाँव है जहाँ पर सिलिका की खदानों में खनन का काम होता है। इस गाँव में लगभग 150 परिवार रहते हैं जिनमें से प्रत्येक व्यक्ति, औरत और अधिकांश बच्चे सिलिका की खदानों में काम करते हैं। यहाँ पर श्रमिक सिलिका पत्थर तोड़ते-फोड़ते हैं। इसकी धूल साँस के रूप में वे अन्दर लेते हैं। नतीजतन, वे टी.बी. के मरीज़ हो जाते हैं। इस गाँव के हर परिवार में औसतन एक टी.बी. मरीज़ है।

राम जीवन एक खदान श्रमिक है। अपने बचपन से अब तक, यानी 30 वर्षों तक, लगातार उसने सिलिका पत्थर तोड़ने का काम किया है। इस पूरे दौर में वह लगातार ज़हरीली सिलिका की धूल के वातावरण में साँस लेता रहा है। आज वह इतना कमज़ोर हो चुका है कि सीधा होकर चल भी नहीं सकता, बोलते-बोलते उसकी साँस उखड़ने लगती है। पिछले डेढ़ साल से वह टी.बी. का इलाज करा रहा है लेकिन दवाइयों का कोई असर नहीं हो रहा है। उसकी पत्नी बकरियाँ चराती है। वह अपने बुखार और खाँसी की परवाह न करते हुए इलाज की बात को यह कहकर टाल देती है कि एक आदमी के इलाज का ख़र्च नहीं निकलता तो दो का कैसे निकलेगा। गाँव की इसी खान नं. 5 में ऐसे बहुत से लोग हैं जिनको टी.बी. है। पहले हालत और ख़राब थी जब सिर्फ 15-20 रुपये ही दिहाड़ी मिलती थी। लेकिन फिर खदान श्रमिकों ने एकजुट होकर विद्रोह किया जिसे 'हल्ला बोल' के नाम से जाना जाता है। परिणामस्वरूप दिहाड़ी बढ़कर 45-50 रुपये हो गई। यहाँ की अधिकतर ज़मीन को सरकार ने 99 साल की लीज़ पर शंकरगढ़ के राज को दी थी, जिसे उसने बाद में ठेकेदारों को पट्टे पर दे दिया। लम्बे समय तक लोग बंधुआ मज़दूरों की तरह कौड़ियों के भाव पर यहाँ काम करते थे। आखिरकार 1980 के दशक के अन्त में और 1990 के दशक की शुरुआत में श्रमिकों ने विद्रोह करके कुछ स्वतंत्रता प्राप्त की। इलाहाबाद के तमाम श्रमिकों में से शायद ही किसी ने सिलिकोसिस का नाम सुना होगा। वे बस इतना जानते हैं कि उनमें से हर तीसरा व्यक्ति टीबी का रोगी है और उसकी औसत आयु 40 वर्ष है। लोगों ने इस बीमारी को 'शंकरगढ़ वाली टी.बी.' कहकर पुकारना शुरू कर दिया।

लेकिन दरअसल यह बीमारी सिलिकोसिस है। यह एक लाइलाज बीमारी है, जो लम्बे समय के दौरान पनपती है। इसके लक्षण टी.बी. से मिलते-जुलते हैं। वैसे तो सिलिकोसिस को रोकने के लिए तमाम राज्य सरकारों ने कानून बनाए हैं, जैसे–राजस्थान सिलिकोसिस नियम-1955, राजस्थान कामगार मुआवजा (व्यावसायिक रोग) नियम-1965, आदि। लेकिन इन तमाम कानूनों के बावजूद सिलिकोसिस को रोका नहीं जा पा रहा है।

वजह साफ़ है। मुनाफ़े की अंधी दौड़ में मज़दूरों के स्वास्थ्य से ठेकेदारों का क्या लेना-देना। हालाँकि कई स्वयंसेवी संगठन और नागरिक मज़दूरों के अधिकारों आदि के लिए जनहित याचिकाएँ दायर की हैं लेकिन इन सब क़ानूनी दाँव-पेचों से कुछ नहीं होने वाला। क़ानून तो यह भी है कि किसी भी व्यक्ति से न्यूनतम मज़दूरी से कम पर काम न लिया जाय। लेकिन आज भी करोड़ों मज़दूर चाहे वे खदानों में हो, कारखानों में हों, या खेतों में, उनसे न्यूनतम मज़दूरी से भी कम दिहाड़ियों पर काम करने को मजबूर हैं।

सोचने की बात यह है, कि यह सब कुछ बुरे व्यक्तियों की वजह से नहीं हो रहा है बल्कि यह इस व्यवस्था की प्रकृतिजनित समस्या है। जिस व्यवस्था में हर चीज़ बिकाऊ माल होता है उसमें आदमी भी बिकाऊ माल ही बन जाता है। फिर न उसके स्वास्थ्य की कोई क़ीमत होती है न उसके जीवन की। अब देश के नौजवानों को सोचना यह है कि जिन लोगों की मेहनत के बूते वे पढ़ पा रहे हैं, कपड़े पहन पा रहे हैं, उनके प्रति वे असंवेदनशील बने रहेंगे या किसी ऐसे समाज के निर्माण के बारे में सोचेंगे जिसमें मानव जीवन का ऐसा अपमान न होता हो, और किसी को भी ऐसा जीवन जीने पर मजबूर न किया जा सके जैसा इलाहाबाद के शंकरगढ़ गाँव के सिलिका खान श्रमिकों को जीना पड़ता है।